खण्ड—४

अध्याय १८

श्रमनीति

सरकार की भूमिका

•

भारतीय मजदूर संघ

प्रस्तावना

'राष्ट्रीय श्रम आयोग' को भारतीय मजदूर संघ द्वारा प्रस्तुत किये गये '**Labour Policy**' नामक अंग्रेजी पुस्तक का यह हिन्दी अनुवाद है।

इस पुस्तक के सभी २० अध्याय अलग अलग पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किये गये हैं।

आपात्कालीन स्थिति के अन्तर्गत कारावास की अवधि में इस अध्याय का अनुवाद आई० आई० टी० कानपुर के प्राध्यापक डा० भूषणलाल धूपड़ के सहयोग से किया गया है।

हम उनके प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं।

—रामनरेश सिंह

सरकार की भूमिका

प्रस्तावना

अभी तक हम लोगों ने राष्ट्रीय श्रम आयोग की प्रश्नावली के अध्यायों का शीर्षकानुसार विवेचन किया है तथा आयोग के सभी प्रश्नों का व्यावहारिक उत्तर दिया है तथा प्रश्नावली के उन भागों को जान बूझकर छोड़ दिया है, जो उद्योग अथवा श्रम सम्बन्धी विषयों पर सरकारी भूमिका होनी चाहिये। इस पर केवल इतनी मात्र टिप्पणी की गयी है, जो अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावी भूमिका डालने वाली थी। जो विषय छोड़ दिये गये हैं, वे मुख्यतया औद्योगिक सम्बन्धों में सरकार की भूमिका के बारे में हैं अथवा मुख्यतया व्यक्ति, समूह तथा संस्थाओं के ईश्वर प्रदत्त स्वतंत्रता से सम्बन्धित हैं, साथ ही आर्थिक, औद्योगिक सम्बन्ध तथा समाजिक महत्व के प्रमुख विषयों में सरकार के द्वारा पूर्णतः अथवा विशेष दिशा के निर्धारण की जिम्मेदारी से भी सम्बन्धित हैं, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष क्रिया, उससे सम्बन्धित उचित ढाँचे और सरकारी हस्तक्षेप के रूप में हैं। उपर्युक्त बातें राष्ट्रीय नीतियों, उनके आधारभूत सिद्धान्तों, ढांचों और कार्यान्वित करने वाली इकाइयों के सामूहिक प्रश्नों से सम्बन्धित है अतएव यह विषय राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय विवाद का एक महत्वपूर्ण प्रश्न बना हुआ है। औद्योगिक और आर्थिक विषयों के सम्बन्ध में एक प्रकार की नीति निर्धारित करते समय सर्वहारा अथवा श्रम का स्थान देने हेतु जो राज्य सम्बन्धी मत मतान्तर खड़े हुये हैं, उनमें साम्यवाद और समाजवाद का जन्म हुआ है। ये उन सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों, जैसे–सामाजिक जीवन में निर्णय लेने वाली पद्धति व ढाँचे से सम्बन्धित हैं। इससे सम्बन्धित एक प्रमुख विषय यह भी है जिसके अन्तर्गत निर्णय करने वाली पद्धति व ढाँचे में अफसरशाही तथा तकनीकी (Bureaucrats and Technocrats) का स्थान क्या होना चाहिये ? इस प्रश्न की प्रकृति को खोजने और उसका निदान निकालने के लिये साम्यवादी अथवा पाश्चात्य देशों के किसी भी प्रबुद्ध व्यक्ति के लिये समान रूप से कठिन है। इन प्रश्नों का यूनियन व व्यवस्थापिका के दिन प्रतिदिन के कार्यों से सीधा सम्बन्ध है। ये लोग यूनियन और प्रबन्धक के विषयों से सम्बन्धित निम्नलिखित मामलों में सरकार की जिम्मेदारी निर्धारित करते हैं। वे विषय हैं–

(१) योजना स्तर पर कार्य की दशा निर्धारित करना जैसे सुरक्षा, कार्य के घंटे, स्वास्थ्य, बाल श्रमिक आदि आदि।

(२) द्विपक्षीय पद्धति की सीमा निर्धारित करना, जो कि सरकारी नीतियों व निर्णयों से पूर्णतः भिन्न हो।

(३) सरकार, ट्रेड यूनियन और नियोजक संगठनों के बीच वार्तालाप की पद्धति निर्धारित करना।

(४) हड़ताल एवं ताला बन्दी के हटने या चलने से सम्बन्धित प्रश्नों पर सरकार की स्थिति को पारिभाषित करना।

(५) औद्योगिक प्रश्नों के सम्बन्ध में सामाजिक हितों को ध्यान में रखकर कानूनी एवं सामूहिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत लोकसभा और राजनीतिक दलों की जिम्मेदारी के बारे में संकेत करना।

नियोजित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत कई और प्रश्न खड़े हो जाते हैं। वस्तु स्थिति यह है कि सरकार द्वारा योजना के उद्देश्य व साधनों तथा उनके प्रभावों को ठीक प्रकार प्रगटीकरण न होने के कारण समस्या औरभी जटिल हो जाती है चूंकि इन उद्देश्यों व पद्धतियों का औद्योगिक सम्बन्धों के हर क्षेत्र पर दूरगामी प्रभाव पड़ते हैं, जैसे–न्यूनतम वेतन का निर्धारण, ठीक प्रकार से समतोलीकरण, मंहगाई भत्ता, एक ही उद्योग में तथा भिन्न व्यवसायों के अन्तर्गत वेतन विषमता, इकाई उद्योग तथा राष्ट्रीय वेतन नीति आदि के सम्बन्ध में उपर्युक्त समस्या और भी जटिल हो जाती है, जब हम क्षेत्रीय विभिन्नता तथा एक ही उद्योग के भिन्न भिन्न फर्मों में देने की क्षमता को ध्यान में लाते हैं। न्यायपालिका द्वारा वेतन निर्धारण, बोनस एवार्ड और उत्पादकता लाभ का मापन व वितरण के सम्बन्धों में जो निर्णय लिये जाते हैं, वह योजना हेतु तर्कसम्मत आधारों पर प्रभाव डालते हैं। खेतिहर, अकुशल और असंगठित मजदूरों के न्यूनतम वेतन और संगठित व उन्नत क्षेत्रों द्वारा योगदान की सीमा निर्धारित करने के सम्बन्ध में योजना की प्राथमिकताओं के प्रभाव को नापने के लिये प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय आदि का असर पड़ता है। स्पष्ट है कि जिस हद तक मजदूर संगठन और नियोजक संगठन योजनाओं की प्राथमिकताओं के निर्धारित करने में योगदान दे सकें, वही स्वतः से सहयोग देने का कानूनी आधार बन सकता है। योजना की पद्धति औद्योगिक क्षेत्र में त्रिदलीय सम्बन्धों की पद्धति को मूलभूत दिशा देगी।

सैकड़ों ऐसे विषय जो नहीं लिखे गये है और जन नीति से सम्बन्धित हैं, वे

इस ज्ञापन में स्पष्ट नहीं किये गये हैं, किन्तु मान लिये गये हैं। साथ ही जो उल्लेखनीय हैं वे निम्नलिखित हैं–सामाजिक और राजनीति विचार जैसे केन्द्रीय और राज्य सरकारों का सम्बन्ध, संस्थागत ढांचा, सामाजिक व आर्थिक उद्देश्य, व्यक्ति और समूह के सम्पत्ति के अधिग्रहण एवं निष्क्रमण के अधिकार, संगठित होने के अधिकार, व्यक्तियों के आकांक्षाओं में सन्निहित विरोध उदाहरण के रूप में स्वतंत्रता और समानता, आर्थिक प्रगति के नियमों की आवश्यकतायें, तकनीकी एवं बाजार के स्तर का प्रभाव, कुछ प्रमुख क्षेत्रों जैसे सार्वजनिक, सहकारी एवं लघु उद्योगों को सामाजिक मान्यताओं के अन्तर्गत विशेष सुविधा देने, संसाधनों एवं व्यक्तियों की पूर्ण रोजगार की आवश्यकता, प्रशासन की समस्यायें जैसे–अधिकार, निर्देश एवं प्रतिनिधित्व के केन्द्रीकरण अथवा विकेन्द्रीकरण, मानवीय क्रिया कलापों के सम्बन्ध में नियमों की सीमितता, न्यायालयों के निर्णय द्वारा कानून के विकास का विस्तार इत्यादि। इन सबके बावजूद भी हमें यह अवगत है कि जिन मान्यताओं को हमने इस संदर्भ में प्रतिपादित किया है, उनके विषय में गम्भीर मतभेद एवं विचार विमर्श हो सकता है इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की मान्यताओं के आधार पर नीतियों एवं श्रम आयोग की अन्तिम अनुशंसाओं के सम्बन्ध में भिन्न निष्कर्ष निकल सकते हैं। हमें यह स्पष्ट नहीं है कि राष्ट्रीय श्रम आयोग किस सीमा तक अपने वर्तमान गठन में आज की सरकार के उद्देश्यों से निर्देशित होगा, वशर्ते कि वह सरकार अपने निर्देशों को स्पष्ट रूप से देने में समक्ष हो, अथवा आयोग अनिर्णीत मामलों में अपने स्वयं के विचार प्रस्तुत करेगा। चूँकि ये सब विषय आयोग के समग्र दृष्टि कोण से मौलिक महत्व के हैं, इसलिये यह विचार किया गया कि अपने अन्तिम ज्ञापन में अपने ठोस सामाजिक नीतियों के आदर्श एवं उद्देश्यों के संदर्भ में एक संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया जाय।

इस दिशा में भारतीय मजदूर संघ बड़े स्वाभिमान पूर्वक कहता है कि इन सब प्रश्नों पर हमारे कोई निजी विचार नहीं हैं, वरन् वे सभी भारतीय परम्परा के अनादिकाल के अनुभव व प्रबुद्धिता के आधार पर निश्चित हुये हैं। हमारा एक पुरातन राष्ट्र है, जिसने असंख्य राजनीतिक उतार चढ़ाव और काल प्रवाह देखे हैं। भारतीय संस्कृति हमको शाश्वत मूल्यों के सिद्धान्त देती हैं। हमारे इस समाज के परिपक्व अनुभव रहे हैं कि सभी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक अथवा अन्य विचार प्रणाली व इज्म जिन्होंने हमारे इस प्रकार के परिपक्व विचारों को ध्यान में नहीं रखा है, कालान्तर में असफल हुये हैं और उनका जीवन काल सौ अथवा दो सौ वर्ष का रहा तथा अपने प्रसिद्धि की चरम सीमा दिखाने के पश्चात मृत प्राय हो गये और आज कहीं पर भी देखने को नहीं मिलते। आधुनिक विचार प्रणालियाँ जैसे

साम्यवाद व समाजवाद भी इस प्रकार की आधारभूत एवं मौलिक सिद्धान्तों को प्रगट नहीं करती हैं। दूसरी ओर हमारे राष्ट्र में जीवन के इन शाश्वत मूल्यों को अति प्रिय समझा व अपनाया है, और इस हेतु वह हजार साल के सर्वव्यापी आघातों को झेलने में सभल रहा है। स्वतंत्रता पाने के पश्चात अब समय आ गया है कि हम पुनः अपनी संस्कृति के इन अनोखे पक्षों को प्रसन्नता से स्वीकार करें और पुनः उद्घोषित करें अथवा इन मूल्यों के आधार पर आधुनिक ढंग से प्रगटीकरण करें। भारतीय मजदूर संघ आग्रह करता है कि राष्ट्रीय श्रम आयोग को इस अपने पुरातन राष्ट्र के सर्वोच्च जीवन मूल्यों को, जो कि देन के रूप में मिले हैं, स्वाभाविक ढंग से मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिये।

राज्य की प्रकृति और उसकी सही भूमिका

आधुनिक काल में राज्य सभी प्रकार के विचार व कार्य प्रणाली पर हावी है। अक्सर राज्य को समाज अथवा राष्ट्र के समकक्ष माना जाता है। और व्यक्ति को इस विश्वास से कि राज्य की कुशलता और संगठन में समाज का हित एवं प्रगति निहित है, राज्य के प्रति उसे क्रमशः अधिक समर्पण करने को कहा जा रहा है। व्यक्ति एवं समूह के ऊपर राज्य के इस घोषणा की बैधता को बारीकी से जांचने की जरूरत है और यह देखने की आवश्यकता है कि क्या राज्य को उन कार्य कलापों के निभाने की योग्यता पर विश्वास किया जा सकता है, अथवा क्या आधुनिक राज्य की कार्य प्रणाली एवं संगठन में कुछ आधार भूत कमियाँ हैं ?

भारत के आधुनिक ऋषियों में से एक श्री अरविन्द ने अपनी ३ पुस्तकों में इस समूचे तत्वज्ञान के आधार पर एवं उससे सम्बन्धित अन्य प्रश्नों पर विवेचन किया है। ये पुस्तकें हैं–The Ideal of Human Unity, Human Cycle, and The Foundations of Indian Culture. उनके विचारों की पूर्ण प्रशंसा व जानकारी इन मूल पुस्तकों के पढ़ने से ही हो सकती है, परन्तु हम ऊपर लिखित विषयों पर उनके कुछ विचारो को ही उद्धृत करते हैं।

'अन्ततोगत्वा वह क्या हैं, जिसके अन्तर्गत राज्य शब्द की कल्पना संगठित समूह से है, जिसमें व्यक्ति के अस्तित्व को मिटा दिया जाता है ? इसका सैद्धान्तिक रूप में अर्थ हुआ कि समूह के उत्थान के लिये व्यक्ति के समर्पण की मांग की जाती है, परन्तु इसका जो व्यावहारिक स्वरूप खड़ा होता है, वह है व्यक्ति का सामूहिक राजनीतिक सैनिकी व आर्थिक अहंकार के प्रति समर्पण होना। जिसके अन्तर्गत कुछ सामूहिक उद्देश्यों एवं आकांक्षाओं की पूर्ति की मांग की जाती है, जिसका व्यावहारिक अर्थ व्यक्तियों के समूह के ऊपर कुछ गिने चुने वर्ग का सत्ताधारी होना है, यह निरर्थक

है कि ये लोग किसी सत्ता धारी वर्ग के हैं अथवा वर्तमान राज्यों में जनता द्वारा अपने व्यक्तित्व से अथवा वातावरण के कारण बने हैं। अपने उद्देश्यों व सिद्धान्तों को वार्तालाप के चमत्कारों के आधार पर अथवा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष शक्ति के आधार पर लादे जाने में कोई आधार भूत अन्तर नहीं पड़ता। दोनों प्रकार की पद्धतियों में ऐसी कोई गारन्टी नहीं है, जिसके अन्तर्गत सत्तारूढ़ वर्ग या सत्तारूढ़ संगठन समाज के सर्वोच्च बुद्धिजीवी वर्ग का अथवा अति उत्तम उद्देश्यों का अथवा उच्चतम मूल प्रवत्ति का प्रतिनिधित्व करे।

विश्व के किसी भाग में आधुनिक राजनीतिज्ञ के बारे में ऐसी कोई बात आग्रह पूर्वक नहीं कही जा सकती। वह न ही जन की आत्मा का प्रगटीकरण करता है और न ही उसकी आकांक्षाओं का। समाज में जो औसतन छोटा पन स्वार्थभाव, अहंकार, अपने को धोखा देना आदि है, जिससे वह स्वयं भी सम्बन्धित है, को ही प्रकट करता है तथा वह बहुत हद तक मानसिक अपूर्णता और परम्परागत नैतिकता आदि का ही प्रतिनिधित्व करता है। निर्णय हेतु महत्वपूर्ण विषय उसके सामने आते हैं, किन्तु वह उन्हें उतनी महत्ता देकर नहीं निभाता। बड़े शब्द और उच्च विचार उसके ओठों पर रहते हैं परन्तु वह शीघ्र ही दल के चंगुल में फंस जाता है। विश्व के हर देश में आधुनिक राजनीतिक जीवन में यह दुर्गुण एवं झूठापन पाया जाता है। केवल उन सबकी चमत्कारिक स्वरूप मात्र ही इस बुराई को ढकती है एवं बढ़ाये रखती है, ये बुराइयाँ प्रबुद्ध वर्ग के साथ एक बड़े संगठित रूप में देखी जाती है। यह अभ्यस्तता ऐसी है कि ये लोग हर एक के सामने घुटने टेक देते हैं। उनका यह स्वभाव बन जाता है तथा उनके जीवन की दिनचर्या बन जाती है। फिर भी यही बुद्धिजीवी वर्ग सर्व साधारण के हित का निर्णय करते हैं और इन्हीं हाथों में इस प्रकार के कार्य सौंपे जाते हैं तथा ऐसी संस्थाओं द्वारा जो अपने आपको राज्य कहती हैं, व्यक्ति से मांग करती हैं कि अपनी गतिविधियों को अधिक से अधिक सरकार को सौंपे। वस्तुतः किसी भी प्रकार से अत्यधिक अच्छाई प्राप्त नहीं हो पाती, बल्कि बहुत मात्रा में संगठित रूप में गलतियाँ एवं बुराइयाँ खड़ी होती है। इनके साथ कुछ मात्रा में अच्छाई होती है, जिसके अन्तर्गत ठीक प्रकार की प्रगति होती है, क्योंकि सब प्रकार की कठिनाइयों में भी स्वाभाविक रूप से प्रगति ठीक दिशा में चलती ही है और अन्ततोगत्वा अपने उद्देश्यों को प्राप्त करती है तथा व्यक्ति के अपूर्ण दृष्टिकोण के होते हुये भी यह सम्भव होता है।

यदि सरकारी सयंत्र अच्छे प्रकार से बनाये जाय और उनमें उच्चस्तरीय मस्तिष्क वाले तथा चरित्रवान लोगों का योगदान हो, और यदि कुछ एसे रास्ते अपनाये जा सकें जिसके अन्तर्गत जो कुछ पुरातन सभ्यताओं ने अपनी राजकीय

(सत्ताधारी) वर्ग की उच्च सिद्धान्तों व अनुशासन द्वारा प्राप्त की थी, और एक राज्य व्यवस्था खड़ी की जा सके तो भी राज्य वह नहीं हो पावेगी जिससे 'राज्य' शब्द का भाव प्रकट होता है। सैद्धान्तिक रूप से यह सामूहिक बुद्धिमत्ता और शक्ति का प्रादुर्भाव है, जिसका संगठित स्वरूप जन समुदाय के हित के लिये है। व्यावहारिक रूप से समाज की अथाह बुद्धिमत्ता एवं शक्ति में से राज्य संगठन जो प्रगटीकरण होने देता है, वह बहुत ही सीमित है, परन्तु इसमें भी राजकीय संयंत्र में फंसकर उसकी काफी मात्रा व्यवस्था की गलतियों एवं स्वार्थपरता के कारण नष्ट हो जाती है। निःसंन्देह, वातावरण के अन्तर्गत यही सर्वोत्तम है, जैसा कि प्रकृति का नियम है—बची हुई शक्ति का अति उत्तम उपयोग करती है। परन्तु परिस्थिति और भी खराब हो जायगी। जब उन सभी क्षेत्रों में, जिनमें राज्य कुछ नहीं करता, व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के प्रगटीकरण का अवसर नहीं दिया जाता। साथ ही परिस्थिति उससे भी अधिक खराब हो जायगी, जब उन सभी कार्यों में जिनमें राज्य के पास करने की न बुद्धिमत्ता, साहस है और न प्रयास है, सर्वोच्च व्यक्तियों को अपनी इमानदारी, क्षमता एवं सिद्धान्तवादिता का उपयोग नहीं करने देती। मात्र यही व्यक्ति की वह क्षमता है, जो सामूहिक प्रगति के लिये व्यावहारिक रूप से प्रभावी संयंत्र सिद्ध होती है। कभी-कभी राज्य इस शक्ति के सहयोग के लिए आती है और तब यदि यह सहयोग अनुचित नियंत्रण के रूप में लादा नहीं गया तो साध्य की प्राप्ति के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। कभी-कभी यह राज्य नियंत्रण में रोड़ा बनकर खड़ी हो जाती है, और प्रगति को रोक देती है। अक्सर ऐसा भी होता है कि जो यह नवीन वस्तु या पद्धति का निर्माण किया जा रहा है और सरकारी सहयोग उसके लिये अनिवार्य होता है, सहायक न होकर उसके सामने एक संगठित विरोध एवं घर्षण के रूप में खड़ा हो जाता है। परन्तु हम जिस ओर बढ़ रहे हैं, उससे एक संगठित राज्य शक्ति का प्रादुर्भाव होता है और ऐसी विशाल अपराजय एवं पेचीदा राज्य गति-विधियां व्यक्ति विशेष के प्रयत्नों को समाप्त कर देती हैं और उसको असमर्थता तथा बौनेपन का बोध कराती हैं। इससे राजकीय संयंत्र की कमियों, सीमाओं तथा अकुशलता पर जो अनिवार्य अंकुश एवं दिशा चाहिए, वह समाप्त हो जाती है।

संगठित राज्य, न ही समाज का सर्वोच्च मस्तिष्क है और न ही असंख्य समूहों की शक्ति का समुच्चय है। अपने संगठित क्रिया-कलापों में से महत्वपूर्ण अल्प संख्यक की सोचने और काम करने की शक्ति को वह छोड़ देता है या दबा देता है। अक्सर यह देखा गया है कि उन अल्प संख्यकों की शक्तियां उस काल में सर्वोच्च होती है और भविष्य के लिये विकासशील होती हैं। राज्य का सामूहिक अहंकार किसी एक सम्प्रदाय के अहंकार से कम होता है। इस अहंकार का क्या स्वरूप है? इसका स्वरूप तो मानवता की दूर दृष्टि एवं अन्तरात्मा के ऊपर जिस रूप से थोपा

गया है, उसका भद्दापन अभी अभी दिखाई दिया था। सर्वसाधारण माना जाता है कि व्यक्ति की आत्मा है और किसी न किसी प्रकार से इस आत्मा की कमजोरियों को वह नैतिकता के आधार पर अथवा किसी सामाजिक मान्यता के भय से पूरा करता है। इसमें भी यदि वह असफल रहता है तो उसे बिरादरी के नियम के भय से जो उसे सर्वसाधारण रूप में अपनाना पड़ता है या बचना पड़ता है, पूरा करना पड़ता है। इतना ही नहीं इस नियंत्रण से बचने में जो कठिनाई है, वही उसके ऊपर काफी अंकुश है; जो बहुत ही उग्र (हिंसक) अथवा धूर्त (चालबाज) होते हैं, उनको छोड़कर सर्वसाधारण सभी पर यह लागू होता है। परन्तु राज्य एक सर्वशक्तिमान इकाई है, जो भीतरी तिकड़मबाजी और बाहरी अंकुशों से कम से कम प्रभावित होती है। इसकी कोई आत्मा नहीं होती। यह एक सैनिकी, राजनैतिक व आर्थिक सत्ता है। परन्तु कुछ अल्प एवं अविकसित मात्रा में बुद्धिमत्ता एवं नीतिज्ञता भी प्रकट करती है, किन्तु ऐसा अनिवार्य नहीं है। दुर्भाग्य वश यह अपने अविकसित बुद्धिमत्ता का सर्वोच्च उपयोग कुण्ठापन (मोथरापन) से करती है, और इस हेतु वह आकर्षक नारे एवं सनसनी खेज कहानियों, आधुनिक काल के राजकीय दर्शन अथवा गलत तरीके से विकसित हुई नीतियों द्वारा प्रकट करती है।

आधुनिक युग में कुछ दिशाओं में अवनति होने के बावजूद भी काफी विकास हुआ है। वर्तमान काल में राज्य अपने अस्तित्व को प्रगट करने के लिये व्यक्ति एवं समूह की सामान्य आर्थिक एवं पाशविक उत्थान के संगठन की आवश्यकता का अनुभव करती है। परन्तु अब राज्य को व्यक्ति स्वतः के उत्थान एवं अप्रत्यक्षतः समूह के नैतिक विकास की आवश्यकता का अनुभव होने लगा है। आधुनिक सभ्यता की सबसे महत्वपूर्ण कार्य कलापों में से एक के अन्तर्गत राज्य अपने आपको एक नैतिक एवं प्रबुद्ध के रूप में विकसित करने का प्रयत्न कर रहा है। मानवता के ऊपर यूरोप की विनाशकारी घटनाओं के परिणाम ने राज्य को अपने वाह्यस्वरूप के अन्तर्गत स्वतः को प्रबुद्ध एवं नैतिक इकाई के रूप में खड़ा करने के लिये बाध्य कर दिया है। परन्तु राज्य का यह दावा कि व्यक्ति की सारी स्वतन्त्र क्रिया-कलापों को वह आत्मसात करले जैसे जैसे ये नये विचार और नई धारायें बढ़ती जा रही हैं, वैसे-वैसे यह भी भावना बढ़ रही है कि व्यक्ति की स्वतन्त्र क्रिया पर वह छा जाय? यद्यपि यह अभी अपरिपक्व अवस्था में है। परन्तु यदि यह पूर्ण हो गया तो निश्चित रूप से मानवीय प्रगति अवरुद्ध हो जायगी अर्थात् एक संगठित जड़ता व्याप्त हो जायगी। जैसे रोमन साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् ग्रीको रोमन विश्व के साथ हुआ है।

राज्य की यह मांग कि मानव अपने व्यक्तित्व को समाप्त करके अपनी स्वतंत्र क्रियाओं को एक संगठित व सामूहिक गतिविधियों के लिये अर्पित कर दें हमारे

उच्चतम उद्देश्यों की मांग से बिलकुल भिन्न है। यह तो व्यक्तिगत अहंकार के वर्तमान स्वरूप को त्यागकर सामूहिक अहंकार में परिवर्तित करना है, जो किसी प्रकार से भी व्यक्तिगत अहंकार से श्रेष्ठ नहीं है बल्कि कई तरह से उच्चतम व्यक्तिगत अहंकार से तुच्छ है। परन्तु परहितार्थ का आदर्श, व्यक्तिगत त्याग का अनुशासन और अपने बन्धुओं के बीच में एकात्मकता की भावना का निर्माण साथ ही मानवता में सामुहिक भावना के निर्माण के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विवाद नहीं है। साथ ही इन उच्च उद्देश्यों का यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति राज्य में तिरोहित हो जाय, न ही इनकी प्राप्ति करने का यह तरीका है। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को न दबाने और न उसे विकृति करना ही सीखे। बल्कि मानवता की पूर्णता में अपने व्यक्तित्व की पूर्ति समझे। मनुष्य यह जरूर सीखे कि अपने व्यक्तित्व को नष्ट एवं विकृति न करते हुये भी अपने अहंभाव को इतना विस्तृत कर ले कि वह किसी महान उद्देश्य की पूर्ति में समाहित हो जाय। एक राज्य पद्धति के द्वारा व्यक्तित्व का समाप्त किया जाना पूर्णता से बिलकुल भिन्न है। हमारे सामुहिक विकास के लिये राज्य एक सुविधा है, एक भद्दी सुविधा। इसे अपने में ही एक उद्देश्य नहीं मान लेना चाहिए।

राज्य कल्पना का यह दूसरा दावा कि मानवीय प्रगति के लिये एक संगठित राज्य पद्धति सबसे अच्छी प्रणाली है भी एक अतिशयोक्ति एवं कल्पना मात्र है। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और उसके विकास के लिये समाज अनिवार्य है। क्या यह सत्य है कि राज्य द्वारा नियन्त्रित प्रक्रिया व्यक्ति को पूर्ण विकास करने तथा समुदाय के पारस्परिक साध्य के योग्य है ? नहीं, यह असत्य है। किन्तु यह सत्य है कि उचित सुविधा देकर कठिनाइयों व अयोग्यताओं को दूर करके यह समुदाय में व्यक्ति के सहयोगी गतिविधियों के योग्य है। यहाँ राज्य की वास्तविक उपयोगिता समाप्त हो जाती है। मनुष्य सहयोगिता की क्षमता की सम्भावनाओं को मान्यता देना अंग्रेजी व्यक्तिवाद की कमजोरी थी। राज्य द्वारा सामुहिक गतिविधियों की क्षमताओं को कठोर गतिविधियों के नियंत्रण में मोड़ देना एक बहाना है, जो कि सामुहिकीकरण के टूटानिक (Teutonic) विचार की कमजोरी है। जब राज्य समुदाय के सामुहिक गतिविधियों को अपने नियंत्रण में लेने की कोशिश करता है, तब यह एक राक्षसी यंत्र व्यवस्था बनाकर अपने आपकी भर्त्सना करता है। क्योंकि यह यंत्र व्यवस्था मनुष्य मात्र की स्वतन्त्रता, प्रेरणा एवं गम्भीर उत्थान को नष्ट कर देती है।

राज्य, सामूहिक ढंग की क्रूरता से व्यवहार करने के लिये बाध्य होती है, ऐसा करना स्वतंत्रता, सामंजस्यता, बुद्धिमत्ता अथवा मुल प्रवत्ति के भिन्न भिन्न कार्य-कलापों, जो कि स्वाभाविक उत्थान के लिये उचित हैं, के अयोग्य है। क्योंकि राज्य एक जीव प्राणी नहीं, यह एक यंत्र है और यंत्र के समान, बिना चतुराई, रुचि,

नाजुकता एवं प्रेरणा के काम करता है। यह उत्पादन करता है, परन्तु मानवता तो उत्थान और निर्माण के लिए क्रियाशील होती है।

जब तक राज्य मनुष्य जीवन और उसके उत्थान के लिये अनिवार्य है, राज्य के कार्यकलाप सामूहिक गतिविधियों, कठिनाइयों को दूर करने तथा सभी प्रकार के घातक घर्षण एवं बरबादी को बचाने आदि सुविधाओं को देने के लिए होने चाहिये। ध्यान रहे कि सभी प्राकृतिक क्रियाओं में घर्षण एवं बरबादी अनिवार्य एवं लाभ-दायक है। राज्य के लिये अनिवार्य है कि वह अन्याय को दूर करे तथा हर व्यक्ति को उसकी क्षमताओं के समाधान हेतु तथा उसकी प्रकृति के अनुसार विकास के लिये न्यायिक एवं समान अवसर दें। अभी तक आधुनिक समाजवाद के उद्देश्य ठीक और अच्छे हैं, परन्तु व्यक्ति के उत्थान में आजादी में अनुचित हस्तक्षेप घातक है अथवा हो सकता है। सामूहिक गतिविधियाँ भी हानिकारक हो सकती हैं, जब वह व्यक्ति उत्थान की आवश्यकता के अनुकूल नहीं होती। साथ ही सभी के लिये व्यक्ति उत्थान के बिना कोई सही और स्थाई कल्याण नहीं हो सकता। वह व्यक्ति को सामूहिक अहंकार में स्वाहा कर देता है और इतना स्थान तथा प्रेरणा तक नहीं छोड़ता जितना कि मानव के पूर्ण विकास हेतु अनिवार्य है। जब तक मानवता का पूरा विकास नहीं होता, जब तक वह उत्थान की ओर जाना चाहती है और जब तक यह परि-पूर्णता के अयोग्य है, तब तक समूह के सभी प्राणियों का स्थायी उत्थान नहीं हो सकता। सभी अधिनायकवादी विचार व्यक्ति को अनावश्यक रूप से आधीन बनाना चाहते हैं। वस्तुतः एक स्थाई परिस्थिति, जो कि वर्तमान काल में पायी जाती है या जिसकी वह स्थापना करना चाहता है और जिसके अन्तर्गत समाज में कोई भी गम्भीर परिवर्तन उसकी शान्ति एवं सुरक्षा के विरुद्ध एक अपराध माना जायगा, को पाना चाहता है हमेशा यह एक व्यक्ति ही है, जो प्रगति करता है और शेष सभी को प्रगति के लिए बाध्य करता है। सामुहिक जीवन अपने आप में कोई प्रेरणा नहीं रखता। समूह की प्रगति, उत्थान तथा मनुष्यमात्र की अनुभूति व्यक्ति को सुख का आभास कराती है, तथा उसको समाधान देती है और यह ऐसा ही होना चाहिये, जब तक कि राज्य एक स्थूल और आर्थिक इकाई है, बावजूद इसके कि वह एक जीवित अन्तरात्मा न हो।

हमारा यह उपर्युक्त विचार राज्य की भूमिका एवं उपयोगिता का प्रमाणित विचार है। राज्य एक यन्त्र है, जीवधारी प्रणाली नहीं है। यह उत्पादन करता है पर उसके उत्थान के कोई सिद्धान्त नहीं है। उत्थान के इस सिद्धान्तों के बीज मनुष्य परिवर्तनशील स्वभाव एवं हर प्रणाली के अनोखेपन में निहित है। राज्य और व्यक्ति

की भूमिका पर ऊपरी व पाश्चात्य दृष्टिकोण यह निर्णय निकालता है कि चूँकि भारतीय विचार व्यक्ति की महत्ता की प्रशंसा करता है। यह निजी सम्पत्ति के विचार को स्वीकार करता है। इससे बढ़कर और कोई झूठ नहीं हो सकता। यह केवल भारतीय पाण्डित्य की गम्भीरता का मजाक उड़ाना है। भारतीय विद्वता के अध्ययन का अर्थ हुआ सन्यास सांसारिक माया अथवा मोहजाल के विचारों का अध्ययन, जो कि भौतिकवादी एवं सम्पत्ति के अपनाने एवं स्वार्थपरता की वाणी से सम्बन्धित है। भारतीय विचार में विवेचनात्मक केन्द्र बिन्दु यह है कि व्यक्ति अपने जीवनकाल में अपनी सुख सम्पदा के उद्देश्यों को एक स्थूल स्वरूप देना चाहता है और चूँकि यह व्यक्ति के व्यवहार एवं दृष्टिकोण में निहित होती है, जिससे सामाजिक गतिविधियाँ एक विशेष स्वरूप ग्रहण करती हैं। अतः व्यक्ति स्वभाव की बनावट में जो उसके असंख्य स्वरूप बनते हैं उनको क्या स्थान अथवा सम्मान दिया जाय? स्वतन्त्रता और नियम तथा भावात्मक एकता एवं आर्थिक समानता के बीच के झगड़े असंख्य स्वरूप की क्षमताओं एवं वास्तविकताओं पर निर्भर करते हैं। राज्य की गतिविधियों एवं व्यक्ति स्वतन्त्रता की मर्यादाओं के बीच की सीमायें तभी जान सकते हैं, जब हम अपने आत्म विकास, सच्चाई एवं सत्ता के नियमों को समझें। इन नियमों की सूझ बूझ व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के समूह और मानवता के बीच के ऊपरी झगड़ों के ताल-मेल के आधार पर है। मनुष्य मात्र की सम्पूर्ण समृद्धि बढ़ाने का स्वाभाविक रूप से अति उत्तम रास्ता यह है कि जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपना विकास कर सके, सभी व्यक्तियों के पूर्ण विकास में समुदाय एवं समूह का विकास हो और सभी समूह के बहुमुखी और अस्तित्व क्षमताओं का विकास सम्भव हो, जिसमें वह अपनी विभिन्नताओं का भी प्रगटीकरण कर सके और इस प्रकार सभी विभिन्नताओं के पूर्ण विकास में जन के सामूहिक जीवन का विकास हो। 'विभिन्नता में एकता' के सिद्धान्त का यही अर्थ है।

प्रकृति के नियम

मानवता को अपनाने के लिए भारतीय प्रबुद्धता के ऊपर लिखित निर्देशों के अनुसार क्रमिक उत्थान के सिद्धान्तों का हमेशा आग्रह रखा है और भिन्न-भिन्न अवस्थाओं पर अनिवार्यता रखी है। इस दिशा में प्रकृति के रहस्यों को खोलने हेतु अरविन्द कहते हैं, प्रकृति उत्पादन नहीं करती, कोई एक पद्धति या बाहरी नियम नहीं थोपती। यह जीवन के विकास के लिए अपने भीतर से ही प्रकट होती है और अपने प्राकृतिक नियमों और विकास को अपने आग्रह से कराती है। यह नियम अपने वातावरण से ही उत्पन्न होते हैं। अपने अस्तित्व के मौलिक सिद्धान्त के ऊपर व्यक्तिगत, राष्ट्रीय धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक आजादी निर्भर करती है। अपने अस्तित्व के नियमों के पालन करने, अपनी प्राकृतिक परिपूर्णता को पालन करने हेतु विकास तथा वाता-

वरण के साथ प्राकृतिक और स्वतन्त्र रूप से सामञ्जस्य बैठाने को ही आजादी कहते हैं। यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता अव्यवस्था, प्रयत्न, द्विविधा और बरबादी के नुकसान और हानियों इन नियमों के दुरुपयोग से खड़ी होती हैं तथा व्यक्ति व्यक्ति के बीच तथा समूह समूह के बीच एकात्म भाव की अनुपस्थिति एवं कमजोरी से यह पैदा होती हैं, क्योंकि व्यक्ति-समूह एक दूसरे के परस्पर उत्थान के स्थान पर बन्धु-समूह स्वतन्त्र विकास का हनन होता है तथा अपने अधिकारों का हद से बाहर आग्रह एवं उपयोग करता है। यदि एक सही आध्यात्मवादी और भावात्मक एकता प्रभावी होती तो स्वतन्त्रता को किसी भी प्रकार के विनाश एवं हानियों का सामना न करना पड़ता। क्योंकि स्वतन्त्र व्यक्ति जो कि एकता से अनुरक्त है, अपने आप में अपने विकास को अपने बन्धुओं के विकास में पूर्णत: सामञ्जस्य बैठाने की आवश्यकता से बाध्य होता और बन्धुओं के स्वतन्त्र विकास के बिना अपनी पूर्णता का अनुभव न करता। हमारे मस्तिष्क और मनोबल की वर्तमान कमजोरियों और अनजाने पन के कारण ही नागरिक व सैनिक अनुशासन से हमें शान्त करने और बाहर से बाध्य करने के लिये विवश किया गया। कड़े नियमों और कठोरता से सुगम लाभ तो स्पष्ट ही है, परन्तु इतनी हीं मात्रा में उसके दुष्परिणाम भी हैं। वह पूर्णता जो इसके पैदा करने में सफल होती है यांत्रिकी प्रकृति की है और इसके थोपने से जो माहौल बनता है, वह कृत्रिम होता है। और जब इसका नियंत्रण कम कर दिया जाता है या हटा दिया जाता है तो वह टूट जाता है। इसके अधिक थोपने और लादने पर स्वाभाविक उत्थान के सिद्धान्त को निरुत्साहित होना पड़ता है, क्योंकि स्वतन्त्रता जीवन के उत्थान के लिये एक सही तरीका है और इसकी अपूर्णता उसके वास्तविक उत्थान को समाप्त कर देगी। हम जीवन को जब दबाते हैं अथवा नम्ने के स्तर प्रमाणित करते हैं, तो यही उसका विनाश है। हम अधिक सैनिक अनुशासन से स्वाभाविक प्रेरणा और उसके स्वत: की आदत को दबाते हैं। लचीलेपन के समाप्त अथवा कम होने पर अचेत व्यक्तित्व का बाहरी स्वरूप ठीक दिखाई देता है किन्तु भीतर से नष्ट रहता है। नियंत्रण जो, कि अपना नहीं है और जिसे हमारी प्रकृति ग्रहण नहीं कर सकती के लम्बे काल तक बने रहने के मुकाबले में अराजकता अच्छी है। सभी दबाने वाले और रोकने वाले नियम क्षणिक उपयोग के हैं। और सही नियमों के स्थान पर रखे गये हैं। सही नियम स्वतन्त्रता के अन्तर्गत होने चाहिये न कि उसके ऊपर रुकावट के रूप में खड़े होने चाहिए। मनुष्य मात्र स्वाभाविक रूप से एवं सचेत होकर उसी अनुपात में प्रगति करता है, जितना कि नियन्त्रण तथा नियम बालक की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में कहा जाता है। वह अपनी पूर्णता को तब पहुंचेगा, जब व्यक्ति, मानव मात्र के साथ आध्यात्म रूप से होने और उसके एक रूप जानने के बारे में ज्ञान प्राप्त करेगा और तभी वास्तविक स्वतन्त्रता के नियन्त्रण का ढाँचा समाज के स्वाभाविक

नियमों का रूप धारण करेगा।

मनुष्य विचार स्वातन्त्र्य, जीवन और उसकी गतिविधियों की स्वतन्त्रता चाहता है, ताकि वह उत्थान कर सके, अन्यथा वह यथास्थिति में एवं कुण्ठित बुद्धि का बना रहेगा। यदि व्यक्ति की तार्किक शक्ति एवं बुद्धि का अपूर्ण विकास हुआ तो वह अपने समूह के अन्तर्गत भेड़िया-धसान में ही विकास करने के लिये मान्यता देगा, क्योंकि अल्प विवेकी मस्तिष्क ऐसा ही करता है। प्रकृति में अल्प विकसित प्रक्रिया ऐसा ही व्यवहार करती हैं। जब व्यक्ति अपने तर्क एवं इच्छा शक्ति का विकास करता है, उसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अपने अनुरूप बदलने की क्रियाओं की आवश्यकता है और समाज को उसके लिये स्थान देना चाहिए एवं वातावरण मुहैय्या करना चाहिए, कम से कम यह तब तक देना चाहिये, जब तक वह अपने विकास से दूसरों एवं सम्पूर्ण समाज को नुकसान नहीं पहुंचाता। यदि मानव मन को एक पूर्ण विकास एवं स्वतन्त्र गतिविधियों के लिये छूट दी गई तो स्वतन्त्रता की आवश्यकता असंख्य दिशाओं में फैलेगी, जो कि इस विकास में ही निहित है और यदि केवल विचार और तर्क में स्वतन्त्र गतिविधियों की अनुमति दी गई तथा जीवन के अन्तर्गत बुद्धिमत्तापूर्ण स्वतन्त्र गतिविधियो को बहुसंख्यीय नियन्त्रणों से रोका गया तो एक असहनीय विरोधाभास एवं मिथ्यापन पैदा होगा। व्यक्ति कुछ काल तक इन विरोधाभास एवं मिथ्यापन को इसलिये सहेगा, कि उसे व्यवस्था आर्थिक उत्थान कुशलता के ढंग एवं तर्क के वैज्ञानिक समाधान नजर आते हैं क्योंकि समाज में अधिनायकवादी व्यवस्था ऐसा पैदा करती है पर जब इसके लाभ प्रचलित हो जायेंगे और इसकी हानियाँ अधिक से अधिक अनुभव में सम्मुख आयेगी, तो समाज के ठीक दिशा में सोचने वाले (विचारवान) व्यक्तियों में असन्तोष एवं विद्रोह पैदा होगा, जो कि जन समुदाय में फैल जायगा। इन परिस्थितियों में यह प्रबुद्ध और जीवमान असमाधान अराजकतावादी विचार को जन्म देगा। जो कि इस अन्तरात्मा के बहुमुखी आवश्यकताओं को ठीक रुप से भाता है। और इसका वाह्य प्रगटीकरण विद्रोह को जन्म देता है। ध्यान रहे कि अराजकवादी तत्व समाजवादी व्यवस्था में पंचमांगी के रूप में काम करते हैं। इस संघर्ष से राज्य केवल उस शिक्षा प्रणाली के माध्यम से लड़ सकता है, जो कि जीवन में एक स्थिर रूप में अपनायी जाती है और जो नागरिकों के विचारों, दृष्टिकोण प्रवृत्तियों में एक रूप पैदा करने के लिये ढूंढ़ी जाती है, तथा जो प्राचीनकाल में अविकसित अवस्था में अपनाई गई थी और जो स्वतन्त्रता और विचार करने की आजादी को दबाकर सभी व्यक्तियों को एक प्रकार के मस्तिष्क, विचार एवं भावनाओं के पैदा करने के लिये अपनायी गई थी। परन्तु यह इलाज एक तर्क संगत समाज में अपने में ही विरोधाभाषी एवं अप्रभावी है और जिस दुर्गुण से संघर्ष करना चाहती है, उससे भी खराब है। परन्तु यदि विचार की इस प्राथ-

मिकता से इनकार किया जाता है तो यह तर्क एवं तर्क संगत समाज के सिद्धान्त के काल का अन्त है। मनुष्य एक प्रबुद्ध प्राणी है, इसको अपने मस्तिष्क और इच्छा शक्ति के उपयोग की अनुमति न दी गई अथवा एक सीमित एवं बधी रूप में दी गई तो उसका विकास रुक जायगा और वह एक पशु अथवा कीड़ों की श्रेणी के समान हो जायगा।

उपर्युक्त प्रमुख दोषों के कारण समाजवादी राज्य अपूर्णता का शिकार बने बिना रह नहीं सकता और एक नवीन विचारधारा के उत्थान के पूर्व ही उसका नाश होना अवश्यम्भावी है। पहले से ही व्यक्ति के जीवन पर राज्य व्यवस्था का दबाव इस हद तक पहुँच चुका है, कि वह असहनीय है। यदि यह जैसा है, वैसा चलता रहता है, जिसके अनुसार व्यक्ति का जीवन कुछ चन्द लोगों द्वारा नियन्त्रित होता है और उस स्वरूप का नहीं, जिसका वह बहाना करता है और जिसके अन्तर्गत यह सामूहिक इच्छा एवं तर्क से नियन्त्रित होता है तो यह स्पष्ट रूप से अप्रजातांत्रिक है अथवा नाम मात्र को प्रजातांत्रिक बना रहेगा। यही इसका खोखलापन है, जिसके अन्तर्गत अराजक तत्व इसके अस्तित्व पर हमला करेंगे। इतना ही नहीं यदि यह समाजवादी राज्य वास्तविक रूप से प्रजातांत्रिक बन जाय, जिसके अनुसार बहुमत की सहमति के अनुसार तर्क संगत इच्छा प्रगटीकरण करे तो भी आन्तरिक कठिनाई दूर नहीं होगी। वस्तुतः किसी भी प्रकार का सही विकास सम्भव नहीं है और यह असम्भव कल्पना को ही प्रकट करता है, जिसके अन्तर्गत सामुहिकीकरण जीवन को न केवल कुछ आधारभूत सिद्धान्तों और अपनी मुख्य दिशाओं के नियन्त्राण का बहाना करता है। जिसे हर संगठित समाज करना चाहता है। इसका उद्देश्य विस्तृतरूप में सम्पूर्ण रूप से वैज्ञानिक नियन्त्राण ही है और जीवन के हर विस्तृत पहलू पर करोड़ों लोगों के स्वतन्त्र तर्क संगत इच्छा की सहमति दिखाना ही अपने में विरोधाभास है। संगठित समाज कितना ही पूर्ण हो, बहुमत एवं अल्पमत की इच्छा से व्यक्ति स्वातन्त्र्य का दबना या दबाना उपस्थित रहेगा। और यह अपने सिद्धान्तों को दूषित करने वाला प्रमुख दुर्गुण है। इससे भी अधिक भयंकर यह हो सकता है, क्योंकि जीवन का सम्पूर्ण मशीनीकरण जीवन के सम्पूर्ण वैज्ञानिक नियन्त्राण से ही लाया जा सकता है। राज्य कल्पना और उसके प्रयोग में यन्त्रीकरण की प्रवृत्ति ही स्वाभाविक कमजोरी है। पहले से ही यह वह कमजोरी है, जिस पर व्यक्तिवादी विचारकों और अध्यात्मवादी विचारकों की दृष्टि ने संकेत करना शुरू कर दिया है। और इस विजय का आग्रह राज्य कल्पना के अधिक प्रयोजन के अन्तर्गत बनना ही चाहिये। यह तर्क की स्वाभाविक कमजोरी है कि यह जीवन को नियन्त्रित करता है, और प्रवृति को दबाकर एक तर्क संगत व्यवस्था को लादना चाहता है।

जीवन भौतिकी ब्रह्माण्ड के नियन्त्राण से भिन्न है और इस नियन्त्राण के साथ तर्क ने सफलतापूर्वक निर्वाह किया है, क्योंकि यह यांत्रिकी स्वभाव का है और स्थायी जगत सम्बन्धी व्यवहार के चक्र में स्थिर रूप से चलता है। जबकि दूसरी ओर जीवन गतिशील, प्रगतिशील एवं परिवर्तनशील शक्ति है। और यह शक्ति मानववाद की आत्मा को बहुरूप में प्रकट करती है। तथा जब यह प्रगति करती है, अपने सूक्ष्म भिन्नताओं एवं आवश्यकताओं तथा अभिन्नताओं से अधिक से अधिक सजग होती जाती है। जीवन अनेक पक्षों के विकास एवं आलिंगन में निहित है और ये वस्तुयें आपस में विवादग्रस्त है और ऐसा देखा गया है कि इनमें पूर्ण विरोधाभाष भी है इन विरोधाभाषों में एकता के कुछ स्थायी आधार और सिद्धान्त, संराधन के कुछ व्यावहारिक तन्त्र में, जिसके अन्तर्गत विरोधाभास एवं संघर्षों को छोड़कर सामञ्जस्य का आधार ढूढ़ने चाहिये तथा सक्रिय जीवन विकास में मानवता के सर्व साधारण उद्देश्यों को खोजना चाहिये। जिसका अर्थ है जीवन के द्विविधापूर्ण कष्टदायक, अस्पष्ट गतिविधियों तथा मन की नादानी एवं जड़ पदार्थ के गूढ़ तत्वों के साथ प्रकृति के समझौता का होना। यह तभी सही रूप से तथा समाधानपूर्वक किया जा सकता है, जब आत्मा अपने आपको उच्चतम एवं परिपूर्ण वास्तविकता में पाती है। और अपने जीवन मूल्यों के परिवर्तनों को अपनी आत्मा के परिवर्तनों के साथ प्रभावित करती है, क्योंकि ऐसा होने पर वह अपने आपको अध्यात्मिक सत्य के साथ एक रूप हो जायगी, जो कि आपसी मान्यता, और संराधन के आधार पर प्राप्त होंगी। अध्यात्मवाद एक सत्यता है, तथा इसका प्रगटीकरण सभी छिपे हुए अथवा प्रशंसनीय स्वरूपों में निहित है, जिनके अन्तर्गत ठीक प्रकार के आकार और सम्बन्ध पाये जाते हैं। विवेचन करने की प्रक्रिया ऊपर लिखे दोनों स्वरूपों के बीच है। इस जीवन को बुद्धि से अवलोकन करना और समझना ही इसका अर्थ है तथा इसकी वह दशा खोजनी है, जिस ओर यह गतिशील है। अथवा जो इसके अशने विकास के नियम हैं। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को स्थाई रुप से अपनाना इसके लिये लाभप्रद है। ध्यान रहे कि भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपूर्ण रूप से ही सत्य है और इनसे पद्धतियां निर्माण होती हैं जो कि जड़ पदार्थ के सम्पूर्ण सत्य के भाव को प्रगट नहीं कर सकती। जड़ जगत की सम्पूर्ण सत्यता तर्क संगत नहीं है, बल्कि अध्यात्मवादी है।

न्याय संगत विचार, एक पक्षीय प्रवृत्ति तथा किसी भी वाद (इज्म) के द्वारा आत्मा को प्रकट करने की अक्षमता के अलावा ऐसा प्रतीत होता है कि हम एक मार्ग ढूंढ़ पाते हैं, जिसके अन्तर्गत इस अन्तरात्मा को बचाने की बात निहित है। ध्यान रहे कि आत्मा सभी प्रकार की श्रेणियों से ऊपर है। समस्या का निदान तर्क में नहीं, अपितु व्यक्ति की आत्मा और उसकी आत्मिक प्रवृत्तियों में निहित है। केवल मात्र

सम्पूर्ण मानववादी व्यवस्था, आध्यात्म तथा उसकी अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता के आधार पर ही बनायी जा सकती है। आध्यात्मवाद जो तर्क संगत ज्ञान से बड़ा है। मनुष्य की चेतन शक्ति को प्रकाशित करता है और उसके स्वार्थ प्रेरक विरोधाभास तथा फूट में सामञ्जस्य पैदा करता है। एक प्रखर बन्धु भाव तथा स्नेह भाव के अज्ञात नियम से ही सम्पूर्ण सामाजिक विकास का आधार सम्भव है और इस पक्ष का कोई और पक्ष स्थान नहीं ले सकता। परन्तु यह बन्धु भाव व स्नेह भाव उन आधार भूत प्रेरणा भावों तथा तर्क से आगे नहीं बढ़ पायेगा, क्योंकि यह सब भाव विरोधाभाषी तर्क और फूट डालने वाले भावों से समाप्त किये जा सकते हैं, एवं कम किये जा सकते हैं। साथ ही इन भावों को मनुष्य के उस मनोभूमिका में नहीं पाया जायगा, जहाँ पर बहुत अधिक कामुकता से संघर्ष करना पड़ता है। यह केवल आत्मा के जड़ मूल में ही पाया जा सकता है। अपने अस्तित्व की वास्तविक सत्यता, भातृ भाव या ऐसा कहा जाय जो भातृ भाव के व्यावहारिक एवं सांसारिक भाव से ऊपर है, के आधार पर 'स्नेह भाव' है। अधिक शान्तिमय एवं स्थायी प्रेरक शक्ति, आध्यात्मवादी बन्धुभाव के एकात्मकता की आन्तरिक अनुभूति को प्रकट करती है। केवल इसी ढंग से अहंकार भाव दूर हो सकता है और मानव जाति में ईश्वर भाव के साथ सही विलीनीकरण को ध्यान में रखकर एक ईश्वर प्रदत्त व्यक्तिवाद की खोज को पाना है। क्योंकि हर प्राणी में आत्मा, अन्तरात्मा और ईश्वर है, तथा उसमें प्राकृतिक विभिन्नताओं की एकता के भाव ही निहित हैं और यह प्रकृति एवं व्यक्तिजीवन की परिपूर्णता की अनुभूति है, जोकि प्रकृति और सम्पूर्ण जीवन में पायी जाती है।

यह एक ऐसा उपाय है, जिस पर इतराज किया जा सकता है कि इसके अनुसार एक अच्छे मानव समाज की परिपूर्णता, जाति के भावी विकास में ही काफी देर से सम्भव होगा। क्योंकि इसका अर्थ है कि तर्क द्वारा बनाई गयी कोई यंत्रणा अथवा व्यवस्था मनुष्य अथवा समुदाय को सम्पूर्ण नहीं बना सकती है। मनुष्य के स्वभाव में ही एक भीतरी परिवर्तन की आवश्यकता है, जो सभी के द्वारा सम्भव नहीं, परन्तु कुछ लोग ऐसा अवश्य कर सकते हैं। यह निश्चित नहीं है, परन्तु यदि यह हल नहीं है, तो कोई हल हो ही नहीं सकता और यदि यह रास्ता नहीं है तो मनुष्य मात्र के लिये और कोई रास्ता नहीं है। पृथ्वी में विकास का क्रम मनुष्य मात्र से आगे है, जैसा कि यह पशुओं से आगे है और एक ऐसी महान जाति का जन्म होना चाहिये, जो अध्यात्मिक परिवर्तन के योग्य है। जीवन को एक नये प्रकार का जन्म होना चाहिये, जो दैवी जीवन के समीप हो। यथा यह निर्णय करने की कोई तर्क संगत आवश्यकता नहीं कि चूँकि परिपूर्णता तुरन्त सम्भव नहीं; इसलिये इसे शुरू ही न किया जाय। मानवता की आध्यात्मवादी दृष्टिकोण की ओर एक निर्णायक

परिवर्तन के लिये यदि एक स्थायी नियमित मार्गदर्शन प्राप्त करने पर भी परिपूर्णता सम्भव न हो और कुछ अग्रसर मनुष्यों द्वारा परिपूर्णता सम्भव हो तो शेष मानव जाति को उनके पद चिन्हों पर चलने देना ही श्रेयस्कर होगा। इसके प्रारम्भ होने से एक प्रभाव दिखाई देगा, जिसके अनुसार मानवता के सम्पूर्ण जीवन के दृष्टिकोण में बदल होगा तथा जो बढ़ता ही जायगा, उसी प्रकार जैसा कि तर्क के आधार पर तर्क, उसकी क्षमतायें और उसके ढाँचे में विकास हुआ है।"

भारतीय ऋषियों एवं मनीषियों के सोचने का स्पष्ट दृष्टिकोण उपर्युक्त है। इसकी विश्वस्तता की परख व्यक्ति एवं सामूहिक जीवन में कई बार हो चुकी है। इसने हमें सत्यता का आधार एवं ज्ञान की सुदृढ़ नीव प्रदान की है। इसलिये यही केवल मात्र हमारे विचार हैं और जो हमारे विचारों पर प्रकाश डालने में सिद्ध हैं।

हमने अपने विचार प्रस्तुत करने के लिये जीवन की इस आधारभूत सत्यता को आधार माना है। इस विषय पर यह हमारे अन्तिम शब्द हैं और जो हमारी प्रस्तुति इन विचारों को प्रकट करने में असमर्थ है, वह हमारी ही कमजोरी है। हमारी प्रस्तुति का आधार यह हैकि हमारे सामूहिकअस्तित्व के ठीक संगठन को भातृभाव के सिद्धान्तों पर आधारित करना। ध्यान रहे कि यह भातृभाव आत्मा की प्राकृतिक प्रेरणा है। यह सिद्धान्त हमें स्वतन्त्रता व समानता के साथ न्यायिक सम्बन्ध या जिसे हम पक्षपात रहित एवं न्यायिक भाव कहेंगे, प्राप्त कराता है। ठीक भातृभाव एकात्म भाव पर आधारित है। और यह उसी समान है, जैसे एक मनुष्य प्राणी अथवा जड़ जगत में भिन्न-भिन्न अंग अपनी विशेषताओं ओर मतभेदों को भूलकर सामूहिक ढंग से काम करते हैं और अपने विकास में हर एक अंग को उपयुक्त स्वतन्त्रता देते हैं। सामूहिक जीवन के हर संयंत्र (क्षेत्र) की भूमिका जैसे ट्रेड यूनियन, एम्प्लायर एसोशियेशन अथवा राज्य को यह समझना चाहिये तथा सच्चा भातृभाव एवं एकात्म भाव के सिद्धान्त के भाव को अनुमोदित करना चाहिये और इस हेतु राज्य को नैसर्गिक नियमों की बढ़ोत्तरी में सभी प्रकार की मनुष्य की कमजोरियों और द्विविधाओं को दूर करके सेवा करनी चाहिये। यह राज्य की उपयोगिता है और ऊपर लिखित कठिनाईयाँ उसकी सीमा हैं। मनुष्य द्वारा निर्मित संसद जो नियम बनाते हैं, उनसे भी परे एक नियम, जिसे संसद नहीं बना सकती और उस सच्चाई के सर्वोच्च नियम के अपनाने में राज्य, संसद व कार्यपालिका एवं न्यायपालिका को लगना चाहिये, क्योंकि सही नियम हमको वे सभी वस्तुयें एवं सुख प्राप्त करा सकती हैं, जिनकी हमें आकांक्षा होनी चाहिये। यह नियम धर्म है, जिसके अंतर्गत सभी कुछ जो हम पाना चाहते हैं, इस नियम के आधीन कार्यान्वित होनी चाहिये। राज्य की ठीक गतिविधियाँ 'धर्म' को बनायेरख ने एवं अपनाने में ही निहित हैं।